# बहू-अभिमान

# प्राक्कथन

कविता सर्वाधिक संवेदनशील विधा है और रचनाकार जब शब्द को उसकी आत्मा के साथ पकड़ कर अपने चिन्तन को व्यक्त करता है, सम्पूर्ण शक्ति के साथ तो रचना जीवन्त हो जाती है। उसकी उम्र कितनी होगी, इस पर आलोचक जो चाहे कहें, पर उसका निर्धारण तो समय ही करेगा। वैसे भी हिन्दी में आलोचना का जो स्तर और दृष्टि रही है, वह कहीं भी, किसी भी बिन्दु पर सन्तुष्टि नहीं देती। खैर।

सुरेन्द्र चतुर्वेदी का यह दूसरा संग्रह है। पहला कविता सकलन था और यह गजल सग्रह।

मेरा संकलन के शीर्षक से इत्तफाक नहीं है। सिर्फ इसलिए कि मेरी व्यक्तिगत मान्यता है कि सुरेन्द्र दर्द की बात कर सकते हैं, उसे देख सकते हैं, गहरे तक उसे छू नहीं सकते। क्योंकि प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा है कि "बोझ मैंने जिन्दगी का अब तलक ढोया नहीं।" वे व्यंग्यकार हैं और इस दृष्टि से मैं इनका सम्मान करता हू। हिन्दी में अत्यधिक कमी है व्यग्य रचनाकारों की और जब कोई युवा अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता के साथ व्यग्य को आधार बनाता है, तो एक बड़ी बात है मेरी दृष्टि में। गद्य मे तो तीन-चार नाम हैं। पर पद्य मे लगभग नहीं हैं। हास्य के नाम पर भी फूहड़पन ही अधिक उजागर हो रहा है।

इस नाते मैं सुरेन्द्र का इस गजल सग्रह के अवसर पर स्वागत करता हूं और विश्वास करता हू कि उनकी तल्खी गम्भीर स्वरूप लेगी।

– प्रकाश जैन
सम्पादक 'लहर'

# दर्द बे-अन्दाज़

(ग़ज़ल संग्रह)



सुरेन्द्र चतुर्वेदी



(प्रथम संस्करण)
अप्रैल, 1986



दर्द बे-अन्दाज़—ग़ज़ल संग्रह, सुरेन्द्र चतुर्वेदी

वितरक—अञ्जलि प्रकाशन, पुलिस लाईन चौराहा, अजमेर

आवरण—सुरेन्द्र चतुर्वेदी

मुद्रक—ए. के. प्रिन्टर्स, राजा साईकिल, श्रीनगर रोड, अजमेर

DARD BE-ANDAZ : Gazals by SURENDRA CHATURVEDI
Price Rs. 25

"बोझ मैंने जिन्दगी का,
अब तलक ढोया नहीं।

लाख विचलित हो गया,
पर पथ कभी खोया नहीं।

जाने कितनी बार मेरी,
यह ज़ुबां खींची गई।

दर्द से युत हो गया,
लेकिन कभी रोया नहीं।"

.........अपनी प्रीति

## आभार

स्व. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

बाबा नागार्जुन

मुद्रा राक्षस

मोहन स्वरूप चड्ढा

# अनुक्रम

# ग़ज़ल–1

लोग उस बस्ती के यारो, इस कदर मोहताज थे,
थी जुबां खुद की मगर, मांगे हुए अल्फाज थे।

कांच को ओढ़े खड़ी थी, उस शहर की रोशनी,
जिस शहर के लोग, सब के सब निशानेबाज थे।

वह सड़क थी या तवायफ का कोई बदनाम थी,
जिस सड़क पे आते - जाते लोग बे-आवाज थे।

लौट कर आए नहीं खुशियां जो लेने को गए,
वो किसी अन्धे सफर का बेरहम आगाज थे।

आदमी होते तो चेहरा छील कर पहचानते,
उस शहर के लोग किन्तु सिर्फ कच्ची प्याज थे।

'मूल' की हम खोज में, फांसी के फंदे तक गए,
मर गए वो मूल थे, जो बच गए वो ब्याज थे।

काफिए थे वो मेरी गजलों के यारो सब के सब,
जिनके हर लम्हे में शामिल दर्द-बे-अन्दाज थे।

## गज़ल–2

कटवा रहे है आजकल वो उस जुबान को,
कहने जो लग गई है अपनी दास्तान को।

है दूर काफी इस शहर में मन के मोहल्ले,
फिर भी सुरगें जोड़ती हैं हर मकान को।

धुएँ से ढक रहे है सिर सीमेन्ट के जगल,
अब खोज कर लाएँ कहा से आसमान को।

है हर नजर अधी, जुबा गूगी है जो यारो,
कुछ भी सुनाई अब नही देता है कान को।

खेतो को डस गई थी कल बारूद की नागिन,
अब तक न चल सका पता अनपढ किसान को।

है मर चुका सब कुछ मगर जिन्दा खड़ी है लाश,
जैसे चुका रही है वो बाकी लगान को।

# ग़ज़ल–3

चलते-चलते जिस जगह, सहरा नजर आने लगे,
हाथ मे दरिया उठा वो प्यास दिखलाने लगे।

लोग तब रटने लगे, कानून तोते की तरह,
जब उन्हें मतलब मसाओ का वो समझाने लगे।

जिस गली मे जानवर के गोश्त का बाजार था,
उस गली मे आदमी वो भून कर खाने लगे।

दोस्तो मे बेखबर, वह शख्स इतना हो गया,
दोस्त खुद मेले मे उसकी जेब कटवाने लगे।

शोर - गुल चारो तरफ जिनकी खिलाफत मे उठा,
लोग वो भी भीड मे जाकर के चिल्लाने लगे।

मकबरो मे खोज वो जब थक गए इन्सानियत,
मैकदे मे उम्र अपनी जाके दफनाने लगे।

# ग़ज़ल–4

इस शहर में जिसके जितने यार हैं,
आस्तीनों में छिपे हथियार हैं।

बेख़बर खुद में मगर हैं बिक रहे,
आदमी है या कोई अख़बार है।

हो गए हैं वो ही अब आधे हकीम,
जो कि बरसों से पड़े बीमार हैं।

क़ायदों के युद्ध में क्यों लोग फिर,
हाथ में छूटी हुई तलवार हैं।

आज भी कुछ लोग मुर्दा हैं मगर,
नाम से ताज़ा तहलकेदार हैं।

तीन सौ पैंसठ दिनों के साल में,
लोग एक भूला हुआ इतवार हैं।

## गज़ल–5

मांगो को मनवाने में नाकाम हो गए हम,
आंदोलन करते-करते 'आमाम' हो गए हम ।

बरगद के पेड़ों के नीचे घास नहीं उगती,
मौसम पर बेवजह लगा इल्ज़ाम हो गए हम ।

बाप हुआ सेवा निवृत्त और बेटा बेरोज़गार,
वनवासी भूखी पीढ़ी के राम हो गए हम ।

कुर्सी की छाया में पल कर बड़े हुए सम्राट,
भूखे पेटों में निकला पैग़ाम हो गए हम ।

बस्ती के हत्यारे देखो 'समद' पहुंच गए,
फुटपाथों की खाक छान नीलाम हो गए हम ।

# गज़ल—6

गर गैन इस दरिया को उड़ाने के लिए है,
फिर कौनसा दरिया जो नहाने के लिए है।

यह हसता हुआ आज के इन्सान का चेहरा,
लगता है नुमाइश में दिखाने के लिए है।

इस शहर में प्यासे को मयस्सर नहीं पानी,
सड़कों पे मगर ख़ून बहाने के लिए है।

ये वेद, ग्रन्थ, गीता और क़ुरान, बाईबल,
हम अपना-अपना चेहरा छिपाने के लिए है।

*जो खोल के सीना खड़ा है गांधी मार्ग पर,*
गोली नहीं कुर्सी कोई पाने के लिए है।

दुःख-दर्द इस जमीन का, खामोशी गगन की,
जैसे गजल में लिख के सुनाने के लिए है।

## ग़ज़ल—7

बैठ कर लोग कुछ वकीलों में,
उम्र को जी गए दलीलों में।

उस मुसाफ़िर ने प्यास से डरकर,
होंठ दफ़ना दिए हैं टीलों में।

वह कमल आदमी के अन्दर था,
हम जिसे ढूंढते थे झीलों में।

या ख़ुदा किस जगह पे मस्जिद है,
आदमी इक नहीं है मीलों में।

टांग कर लोग उस मसीहा को,
जाने क्या ढूंढते हैं कीलों में।

# गज़ल–8

कुछ लोग उम्र भर ही उजालो मे रहे है,
यह बात और है कि खयालो मे रहे है।

मुश्किल नही उनके लिए ईमान वेचना,
जो लोग हमेशा से दलालो मे रहे हैं।

गीता पे रखके हाथ बोले भेडिए हममे,
हम उम्र भर इसान की खालो मे रहे है।

कुछ लोग ढूंढते ही रहे रीढ की हड्डी,
शायद वो मकडी की तरह जालो मे रहे हैं।

उनको समय ने पी लिया है चुस्किया लेकर,
जो बेखबर हो जाम और प्यालो मे रहे हैं।

अन्याय की लङ्का जलाना अब नही मुमकिन,
हम व्यस्त उम्र भर के सवालो मे रहे है।

## गज़ल—9

पंछी पिजरे मे जब निकलता है,
जाने क्यो आसमा को खलता है।

वक़्त ! इतरा न अपनी आदत पर,
ऊँट भी करवटें बदलता है।

आग उसकी कहाँ गई यारो,
अब तो वो बर्फ सा पिघलता है।

जिसके अन्तर में इक समन्दर है,
वह भी अब थूक ही निगलता है।

वह दिया रोशनी नहीं देता,
जो कि अंधों के आगे जलता है।

आईना अर्थहीन हो जाता,
आदमी जब भी खुद मे मिलता है।

# ग़ज़ल–10

आखरी वक्त इस जमाने को,
घर से निकले है आजमाने को।

बुझने दीपक हजार थे लेकिन,
घर मेरा ही मिला जलाने को।

आंधियां पूछती है बरगद से,
है घरौंदा कहीं पे ढाने को।

बन्द मन्दिर में इक कबूतर था,
कौन जाता उसे बचाने को।

सुबहा भटके तो शाम को लौटे,
घर ही बेहतर था सिर छुपाने को।

क़ैद भीतर हजारों पक्षी थे,
बाज लेकिन मिला उड़ाने को।



। : सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

## ग़ज़ल–11

जिस आदमी को खोजते थे वो मकान मे,
वह आदमी तो उड़ रहा था आसमान मे।

आवाज़ बे-असर मेरी होती ही जा रही,
क्या नुक्स है बताइये मेरे बयान मे।

मुर्दों को लादता हुआ इठला रहा था वो,
जैसे वही था आदमी पूरे जहान मे।

बंजर जमी पे मीलों तलक सब्ज़ घास थी,
थे ख़ून के निशा मगर हर ढलान मे।

गाड़ी गई जो कील तो रोने लगा सलीब,
गूंगों ने दी सदा मगर बहरों के कान में।

सन्नाटा छा गया शहर, भूचाल पी गया,
जब बेचने लगे कफ़न मुर्दे दुकान में।

# ग़ज़ल—12

आग के साथ जला आग जलाने वाला,
अब कहां लौटेगा वो राख उठाने वाला।

अब भी दहशत से परेशान है पूरी बस्ती,
रस्मिया छोड़ गया सांप दिखाने वाला।

रोशनी गिरती नजर आई जो कल रस्ते में,
एक अंधा ही मिला उसको उठाने वाला।

उम्र काटी थी अंधेरों में उजालों के लिए,
पास मरघट के मिला राह दिखाने वाला।

आईना खौफ में कुछ देर तो कांपा होगा,
एक पत्थर जो मिला साथ निभाने वाला।

दायरों की ही तरह चलता रहा पानी में,
किस तरह भटका था वो नाव चलाने वाला।



। : सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल–13

उड़ा के ले गईं हवायें वहाँ-वहाँ मुझको,
नहीं था जाना कभी भी जहाँ-जहाँ मुझको।

बसी हुई थी वहाँ खुशनुमा सी बस्ती मगर,
कहीं नज़र नहीं आया मेरा मकाँ मुझको।

ये माना आग कुछ अंदर न थी मेरे लेकिन,
दिखाई क्यों देता था बाहर ये धुआँ मुझको।

थी कुछ तो पहले ही आवाज बे-असर मेरी,
बना गए हैं कुछ हालात बेजुबाँ मुझको।

मेरी जमीन ही वापस दिला हवा मुझको,
के अब न चाहिए कोई भी आसमाँ मुझको।

हवा में उड़ते हुए कोई चीज थामी थी,
थमा दे गया है गरेबाँ मेरा कहाँ मुझको।

# ग़ज़ल—14

साम तक लेना वहा मरने से बदतर था कोई,
जिस कसाई के यहा घायल कबूतर था कोई।

भीड मे जो दब कुचलकर मर गया उस शहर के,
हाथ में आटे का इक खाली कनस्तर था कोई।

केंचुली इक साप की लोगो के बीचो-बीच थी,
हर किसी के हाथ मे भारी सा पत्थर था कोई।

उस तरफ धुआं उठा तो लोग चिल्लाने लगे,
क्या हुआ, मालूम क्या, सबका यह उत्तर था कोई।

नीद हमको आखिरी आई तो सोने के लिए,
धोकडो की लकडियों का एक बिस्तर था कोई।



: सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल–15

दिन भर हम बनते है, शाम ढले ढहते हैं,
दर्द वो घरौंदा है, जिसमें हम रहते है।

लौट गए साहिल पे कश्तियों को रखकर के,
रेत के समन्दर को दरिया जो कहते हैं।

लोग तो मकानों की छत जैसे नाले हैं,
सूखे में थमते हैं, बारिशों में बहते है।

फटे हुए मोजों ने जूतों से यह पूछा,
क्या दु:ख पैगंबर भी हम जितना सहते हैं।

# गज़ल–16

यह कौन तीर बन कर उतर गया है मुझमें,
यह कौन हादसे सा गुज़र गया है मुझमें।

उसकी शिनाख्त अब तक मैं कर ही नहीं पाया,
वो कौन शख्स था जो कि मर गया है मुझमें।

जो आंधी बन के आया वो जी रहा है मुझमें,
जो घरौंदा था वो कब का बिखर गया है मुझमें।

वो नाम था या कोई चाबुक सी एक शै थी,
जो नक्श बन के अब भी उभर रहा है मुझमें।

बेताब हूँ मैं अब भी यह जानने के खातिर,
है कौन सा महीना जो ठहर गया है मुझमें।



: सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल–17

बस्ती से कोई गुजरा जब आटा लिए हुए,
भूखे बच्चे हँसे मगर सन्नाटा लिए हुए।

चिमनी के धूएँ ने थक कर अबर को देखा,
बाज़ जहा उड़ता था इक, फर्राटा लिए हुए।

निगल गया अजगर औरत तब जंगल यूँ बोला,
अब तो सोयेगा वह भी खर्राटा लिए हुए।

ले आया वह एक तराजू दर्द तौलने को,
जख्म मगर हर बार तुले थे घाटा लिए हुए।

गया खोजने था वह अपने भीतर का हीरा,
लौटा पर वह खून सना इक काटा लिए हुए।

## ग़ज़ल—18

था काम उनको मिल गया बस्ती जलाने का,
जो के बहाना ढूँढते थे दिल लगाने का।

वो बंद कमरे का सफ़र बन करके रह गए,
था शौक जिनको हर अँधेरे आजमाने का।

वह शख्स रोया किसलिए मिल कर हिमालय से,
आदी नहीं था जो कभी भी गिड़गिड़ाने का।

वो बेवजह ही जी रहे है सूलिया बन कर,
जिनको नशा था एक दिन ईसा कहाने का।

था वो अगर ज्वालामुखी तो क्यों नहीं धधका,
क्यों हो गया अभ्यस्त वह आँसू जमाने का।

जो आंधियों को ब्याज पे ले करके आए है,
ठेका उन्ही को मिल गया है घर बनाने का।



I : मो-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

## ग़ज़ल–19

दर्द बच्चों की तरह बढ़ने लगे,
आँसुओं की पीठ पर चढ़ने लगे।

दौड़ में खरगोश फिर कछुओं से जा,
जीतने की शर्त पर अड़ने लगे।

अब दवाओं का असर होता नहीं,
जख्म पोखर की तरह सड़ने लगे।

पक्षियों का फिर कहीं पिंजरा खुला,
देखिए ये बाज फिर उड़ने लगे।

ले के आए हैं वो तब संजीवनी,
जबकि मुर्दे कब्र में गड़ने लगे।

बांध राखी औरतों के हाथ में,
चूड़ियों को मर्द हैं लड़ने लगे।

क्या पता क्यों लोग जा कर उस जगह,
गाते-गाते मर्सिया पढ़ने लगे।

## ग़ज़ल–20

मछली के हक में वो नीर हो गए है क्या ?
मरते ही मछुआरे पीर हो गए है क्या ?

नाली में उसने फिर फेंक दिया रिश्तों को,
बिल्ली की झूठी वो खीर हो गए है क्या ?

देवदार वृक्ष तले अजगर ने लूट लिया,
झरने उस हिरणी को पीर हो गये हैं क्या ?

देखने को नगापन दोस्त सभी आतुर है,
द्रौपदी का चीर हम पीर हो गए हैं क्या ?

शब्दों के खंडहर में भाषा ये सोच रही,
सम्बोधन जहर बुझे तीर हो गए हैं क्या ?



I : बी.50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

## गज़ल—21

लंबी बहुत फहरिश्त है जिनके गुनाहों की,
करने लगे है वो वकालत बेगुनाहों की।

वैसे तो है हर हाथ में रूमाल मौसम के,
पर सामने उनके खड़ी, साजिश हवाओं की।

कोढी हुआ है इस कदर उस शहर का कानून,
थाने, दुकान बन गए है अब गवाहों की।

है कांच की खुशियों के आगे दर्द की चट्टान,
जिसके नही है पास गुंजाइश गुफाओं की।

है इस कदर शासन वहां पर बुतपरस्तों का,
पत्थर बना रहे है सब बस्ती खुदाओं की।

# ग़ज़ल–22

आंख होने लगी तब सजल गांव की,
लोग लिखने लगे जब गज़ल गांव की।

लूटा औरत को जिस दिन गया शहर में,
वो ये बोली कि मैं हूं फसल गांव की।

वह अदालत थी या था कमाई का घर,
कट रही थी जहां पर नसल गांव की।

हाथ दीपक पे रख उल्लुओं ने कहा,
रोशनी हम गए हैं निगल गांव की।

पास उसके शहर की कई चालें थीं,
बोला सूरत मैं दूंगा बदल गांव की।

राजधानी में धुआं सा उठने लगा,
आते जब आई बाहर निकल गांव की।



: सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल–23

पहरुओं को आजकल कैसी यह आदत हो गई,
गोलियां मालिक पे दागी, बस,हिफाज़त हो गई।

मेमने घर से उठा कर भेड़िए जो ले गए,
देख लो उन भेड़ियों तक की जमानत हो गई।

काटो-फाड़ो या जलाओ देश के संविधान को,
फैसले अंधे हैं अब, बहरी अदालत हो गई।

फेफड़े भी खून पर विश्वास अब करते नहीं,
जिस्म के भीतर भी देखो अब बगावत हो गई।

मर गए सिद्धान्त सारे आत्मा तक बिक गई,
धर्म गद्दी किन्तु उनकी फिर सलामत हो गई।

मन्दिरों में बैठ जो बेचा किए इस देश को,
मां की गाली से भी बद उनकी इबादत हो गई।

# गजल—24

जब से वे दावानल हो गए है,
मोम के हम महल हो गए है।

झील जब से उन्होंने है छोड़ी,
काच के हम कमल हो गए हैं।

कल तलक वो हमी से थे जिन्दा,
दूर जो आजकल हो गए है।

रेत मे हम हिरण जैसे भटके,
रस्ते रद्दोबदल हो गए है।

वो बरस भी कटे एक पल मे
ये बरस जैसे पल हो गए है।

हम सरल से कठिन हो गए और,
वे कठिन से सरल हो गए है।

कल तलक तो हमी गगाजल थे,
आज हम ही गरल हो गए हैं।

उनकी आखो मे डूबी हुई सी,
दर्द की हम फसल हो गए है।

वे असल थे, अभी भी असल है,
हम असल से नकल हो गए है।

भूल बैठे है वे जिसको गा कर,
हम वही ऐसी गजल हो गए है।



[illegible]
: मो.50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल–25

भेडियो का जब कभी मतदान होता है,
मेमनो पर फिर नया मेहमान होता है।

बाहर ससद के रमाओ धुनी अब यारो,
मंदिरो मे अब कहाँ भगवान होता है।

राजपथ पर लोग जो मजमा लगाते है,
मच पर उनका ही अब सम्मान होता है।

मकबरो पर बैठ कर इमानियत रोनी,
आदमी अब क्यो नही इमान होता है।

जन अदालत जब कभी खंजर उठाती है,
हाथ मे सत्ता के तब सविधान होता है।

रोटिया जब-जब भी यारो राम बनती है,
आदमी तब-तब यहा हनुमान होता है।

# ग़ज़ल—26

इक रोज तो मिटनी ही थी उनकी ये हस्तिया,
तूफान मे जिनको मिली कागज की कश्तिया।

कर्फ्यू लगा था पेट पर, सीने पे थी संगीन,
ऐसे मे याद आईं बहुत मा की थपकिया।

अंधों के मोहल्ले में जो बाटा गया काजल,
सब आईनो ने लूट ली चेहरे की मस्तिया।

बच्चे झुलस के मर गए रोटी की आग में,
वह बीनता ही रह गया सूरज की अस्थियां।

फूलो के चेहरों पर भी जब छिड़का गया तेजाब,
तब खुदकशी करने लगी बागो की तितलिया।

बेटा दलाल हो गया, जाकर के शहर में,
उसको सुनाई दी नही फिर मा की सुबकिया।

उस गाव को सौपा गया सीमेंट का कफन,
जिसने बसाईं थी कभी देवो की बस्तियां।



: सी.50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

## ग़ज़ल–28

ज़िन्दगी सब जी रहे हैं इक पहेली की तरह,
अपने पुरखों से मिली सूनी हवेली की तरह।

हम निरक्षर हों सही पर ज्योतिषी से कम नहीं,
पढ़ लिया करते हैं चेहरे हम हथेली की तरह।

नाम पर खुशबू के उनके पास में बच्चे ही हैं,
खिल नहीं सकते हैं जो जूही-चमेली की तरह।

उस शहर की वो गली कितनी विवश थी उन दिनों,
जिन दिनों जलकर मरी थी वह नवेली की तरह।

उस नदी के पास में टूटी हुई जो नाव है,
है सुहागिन की किसी विधवा सहेली की तरह।

## ग़ज़ल–29

इस शहर का अब कोई हमदम नही क्या बात है ?
मौत पर इसकी, कहीं मातम नही क्या बात है ?

हर गली के छोर पर दरख्त खड़े है दर्द के,
मुस्कराता अब कहीं मौसम नही क्या बात है ?

जो नदी तुमसे निकल कर, पहुचती थी मुझ तलक,
उस नदी का अब कहीं सगम-नहीं क्या बात है ?

जो दिया जलता रहा था साथियो के सामने,
उस दिए की लौ में अब कुछ दम नही क्या बात है ?

जो हमें उपदेश देते थे हिमालय की तरह,
आज वे अपनी जगह कायम नही क्या बात है ?

खून से तुमने लिखी थी रोशनी की जो गजल,
उस गजल की अब कोई सरगम नही क्या बात है ?



: सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

## ग़ज़ल–29

इक राजा के बुरे दिनों की हम पहचान हुए,
इक-इक करके सब शुभचिंतक अंतर्ध्यान हुए।

जुड़े और फिर जुड़कर टूटे अपने हर रिश्ते,
बिना पिता की बेटी के हम कन्यादान हुए।

कुछ सीलन, कुछ घुटन और कुछ मकड़ी के जाले,
बंद अंधेरे खण्डहर के हम रौशनदान हुए।

भूखा मुन्ना, नंगी टुन्नी, तार - तार पत्नी,
फटी हुई उनके नौकर की हम बनियान हुए।

उजियालों के शिविर लगाकर बैठ गए अंधे,
और सूरज की खोज में निकला हम अभियान हुए।

अपने ही आंगन में उसने गाड़ दिए बच्चे,
कितने मंहगे इस दुनिया के कब्रिस्तान हुए।

## ग़ज़ल—30

राजपथ पर जब कभी इल्जाम आता है,
आदमी फुटपाथ का ही काम आता है।

भेड़ियों की आदतें इतनी अहिमक हैं,
हर जुबां पर मेमनों का नाम आता है।

एक अंधे गांव का सूरज निवासी है,
अब कहां उस गांव का पैगाम आता है।

किसलिए शरमा गए बाजार में आकर,
बेचने सीता यहां खुद राम आता है।

सांप से लिपटे रहे कुर्सी के पांवों पर,
जैसे उनको बस यही एक काम आता है।

कौन जाने डाकिया किस द्वार आ जाए,
खत बगावत का बड़ा गुमनाम आता है।



: सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल—31

तुम्हें गर ज़ोर अपने बाजुओं का आज़माना है,
तो तुमको तैर कर खुद धार के उस पार जाना है।

ये चेहरा आदमी का वो कहीं से ले तो आए हैं,
मगर दस्तूर उनको जानवर का ही निभाना है।

जहां पर जिन्दगी त्यौहार आकर के मनाती है,
वहां कुछ दोस्तों को मौत का मजमा लगाना है।

किसी ने मसखरों की इसलिए बस्ती बसाई है,
वहां मरने से पहले क्योंकि सबको मुस्कराना है।

वहां वे रोशनी के नाम तक से थरथराते हैं,
वहां सिर भूमलों के सामने उनको उठाना है।

जिन्हें आवाज़ अपनी तक सुनाई दे नहीं पाती,
बड़ा अफसोस उनके सामने दुखड़ा सुनाना है।

## ग़ज़ल—32

हम जी रहे हैं इस कदर तन्हाइयो के बीच,
सूखा हुआ हो पेड ज्यो अमराइयो के बीच ।

हम दर्द के ननिहाल मे कुछ इस तरह पले,
विधवा ननद पली हो ज्यो भौजाइयो के बीच ।

वो लौट आए छू के बस ! साहिल-ए-नामवूर,*
वो जा न सके तैर के गहराइयो के बीच ।

उनको भरम था ये कि सभी लोग है अपने
वो जी लिए इस भरम मे हरजाइयो के बीच ।

था रेत का कस्बा जहा इक भी शजर न था,
हर शख्स जिया अपनी ही परछाइयो के बीच ।

मरना नही आया उन्हे जीने के शौक मे,
मर-मर के जिए किस कदर रुसवाइयो के बीच ।

* नामवूर—बेमत्र



: सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल—33

टूटे हुए मकान की गिरती दीवार पर,
कुछ लोग ख़ुश होने लगे सूरज उतार कर।

छप्पर को फाड़कर ख़ुदा देगा ये सोच कर,
इक झोंपड़ी बैठी रही झोली पसार कर।

ढूंढा था हर कहीं मगर ख़ुद में ख़ुदा मिला,
देखा था हमने ख़ुद में ही ख़ुद को पुकार कर।

बिकते नहीं जो हम तो हमें लूट लेते वो,
मजबूरियां थी, बिक गए मासिक पगार पर।

इक पल को जहां ठहरना यारो फ़िज़ूल था,
लौटे हैं वहां से भी हम सदियां गुज़ार कर।

आंखों में कांच पीसकर वो लोग चल दिए,
जो थक चुके थे, नींद का रस्ता बुहार कर।

# ग़ज़ल—34

जीते जी ये बोझ सांसों का उठाना ही तो था,
जिन्दगी को छोड़ फिर इक रोज जाना ही तो था।

कब तलक अफसोस करते दीये के बुझने का हम,
रात को गर ना सही, सुबह बुझाना ही तो था।

लिख दिया था मौत ने तकदीर पर जिस गीत को,
गीत वह हँसकर या रोकर गुनगुनाना ही तो था।

वो नदी हरदम बहाती थी किसी एक गांव को,
बाढ़ का डर था हमें पर घर बसाना ही तो था।

हर तरफ थे रास्ते पर थी नहीं मंजिल कहीं,
इसलिए कुछ दूर चलकर लौट आना ही तो था।

सिर झुकाने के लिए हरगिज न हम तैयार थे,
उनके हाथों इसलिए सिर को कटाना ही तो था।



सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

## ग़ज़ल—35

[illegible] हैं जिनके मुकद्दर हैं,
जो वही [illegible] के [illegible] हैं।

[illegible] है बहुत अनमोल इलाका,
फिर इस पर क्यों यहाँ मिट्टी के घर हैं।

लगता है [illegible] के तन पर मोरा,
इस शहर के अंदर भी कितने निडर हैं।

[illegible] भी न कोई जान पाया,
[illegible] जो लोग हैं या जानवर हैं।

[illegible] जितने कमल हैं मत गिनो तुम,
देखिये कि झील में कितने मगर हैं।

[illegible] सींचेंगे अब सूरज का पौधा,
जो दिन की भी तलब से बेख़बर हैं।

दर्द के-

# ग़ज़ल–34

जीते जी ये बोझ सांसों का उठाना ही तो था,
जिन्दगी को छोड़ फिर इक रोज जाना ही तो था।

कब तलक अफसोस करते दीये के बुझने का हम,
रात वो गर ना सही, सुबह बुझाना ही तो था।

लिख दिया था मौत ने तकदीर पर जिस गीत को,
गीत वह हँसकर या रोकर गुनगुनाना ही तो था।

वो नदी हरदम बहाती थी किसी एक गाँव को,
बाढ़ का डर था हमें पर घर बसाना ही तो था।

हर तरफ थे रास्ते पर थी नहीं मंजिल कहीं,
इसलिए कुछ दूर चलकर लौट आना ही तो था।

सिर झुकाने के लिए हरगिज न हम तैयार थे,
उनके हाथों इसलिए सिर को कटाना ही तो था।



प्रस्थान (कविता संग्रह : 1984)
: सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल—35

हाथ ताज़ा ख़ूं मे जिनके मुर्ग़तर है,
वो वही इंसानियत के पक्षधर है।

आंधियों को है बहुत अफ़सोस इसका,
सिर उठा कर क्यों खड़े मिट्टी के घर है।

नाचता है सांप के फन पर सपेरा,
इस शहर के सांप भी कितने निडर हैं।

चीख़ सुन कर भी न कोई जान पाया,
कट रहे जो लोग है या जानवर हैं।

झील में कितने कमल है मत गिनो तुम,
ये गिनो कि झील में कितने मगर हैं।

लोग वे सींचेंगे अब सूरज का पौधा,
जो दिये की लौ तलक से बेख़बर है।

# ग़ज़ल–36

चाहत का अपनी बाद मे इजहार कीजिए,
आवाज पहले अपनी वज़नदार कीजिए।

क्यो हाथ मे तलवार लिए आप खडे है,
गर जीतनी है जग तो फिर वार कीजिए।

मंज़िल बनाना ही नही काफी है दोस्तो,
मंज़िल के लिए रास्ता तैयार कीजिए।

अपने उसूलों के लिए जीना ज़रूरी है,
पर मौत भी आए तो स्वीकार कीजिए।

उड़कर के पार कीजिए या तो समदर को,
या कि इसे फिर तैर कर ही पार कीजिए।

ये भूलिए कि साथ मे है फ़ौज यारों की,
अपने ही दम पे आप एतेबार कीजिए।



प्रस्थान (कविता संग्रह : 1934)
: : सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल–37

हाथ मे जिनके सुनहरे हार थे,
लोग वे दुर्भाग्य मे लोहार थे।

जो मिले थे बाग में जुगनू थे वो,
कौन कहता है कि वो अंगार थे।

वक्त ने जिनको हराया था कभी,
हम नहीं थे वो सिर्फ हथियार थे।

जिस जगह पर रोशनी अंधी हुई,
उल्लुओ के उस जगह दरबार थे।

गिद्ध, कौए, चील और कुत्ते न थे,
वो तो सबके सब हमारे यार थे।

बिक रही थी उम्र सब्जी की तरह,
जिस जगह पर जिस्म के बाजार थे।

डाक्टर को मारकर भागे थे जो,
लोग कहते है कि वो बीमार थे।

## ग़ज़ल–38

स्थिति उनकी बड़ी गम्भीर है,
पास में जिनके पराई पीर है।

दोस्त पांडव हैं हमारे इसलिए,
हाथ में फिर कौरवों के तीर हैं।

रोशनी राशन पे बांटी जाएगी,
उल्लुओं की यह नई तदबीर है।

रेत का दरिया है उनके सामने,
पांव में जिनके बंधी ज़ंजीर है।

जीतना या हारना तो बाद का,
पर जो पहले हाथ मारे मीर है।

ग़ुर्द जमा डाला है 'राभे' ने उसे,
कितनी बदकिस्मत बेचारी हीर है।



प्रस्थान (कविता संग्रह : 1984)
: सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल-39

वक्त ने जिनको किसी मोड़ पे मारा होगा,
पास उनके वहां तिनके का सहारा होगा।

कब्र इक पल तो बड़े जोर से कांपी होगी,
मां ने जब चांद को गोदी से उतारा होगा।

हो सका जो न सगा अपने ही घरवालों का,
वो सगा किस तरह ऐ-दोस्त तुम्हारा होगा।

मन्च मे लाश उठाने की नहीं आज्ञा है,
सबकी फरमाइश पे यह दृश्य दुबारा होगा।

जो भी हो चीज नहीं है वो समन्दर जैसी,
जो समन्दर की तरह होगा तो खारा होगा।

# ग़ज़ल—40

मत पूछिए किस हद तक उसके मैं संग हूँ,
सूखी नदी के घाट की काई का रंग हूँ।

इक क्षण को ज़रा गौर से पहचानिए हुजूर,
बलवे में कटे आदमी का एक अंग हूँ।

मेरे अँधेरे में ज़रा चल कर तो देखिए,
जो पहुँचती है रौशनी तक वो सुरंग हूँ।

माझे को मेरी बे-वजह लानत न दीजिए,
मैं ख़ुद-ब-ख़ुद माझे से टूटी इक पतंग हूँ।

उस ख़त में कुछ भी तो नहीं लिक्खा है दोस्तो,
कोने फटे को देखकर अब तक मैं दंग हूँ।

मैं भोगता हूँ यातना पर चीख़ता नहीं,
मैं इस ज़ुबाँ से दोस्तो बेहद ही तंग हूँ।



अरण्यान (कविता संग्रह : 1954)
: सी.10, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल—41

जगल का नियम फिर से बदलना पडा हमें,
भेडो की खाल ओढ जब चलना पडा हमे।

ज्वालामुखी था मामने भीतर था समन्दर,
इस हाल मे अ-दोस्त उबलना पड़ा हमे।

मरने के डर से ख़ुदकशी करने लगे जो फूल,
काटो की क्यारियो मे तब खिलना पडा हमे।

जिनके महल मे, रोशनी का जिस्म था बिका,
उनके महल में उम्र भर जलना पडा हमे।

सूरज के साथ हम गए आकाश को छूने,
पर दिन ढले ही दोस्तो, ढलना पडा हमे।

हम 'मेनका' के सामने बैठे थे ध्यान को,
मत पूछिए किस तरहा सभलना पडा हमे।

## ग़ज़ल–42

कुछ तो फूटे हुए मुकद्दर थे,
और कुछ दर्द अपने अन्दर थे।

अपने भीतर जो देखा हमने कभी,
दूर तक रेत के समन्दर थे।

आईने के बने थे टूट गए,
किसको कहते कि दोस्त पत्थर थे।

हमने पहना जिन्हें था कोट समझ,
वे सभी दोस्ती के अस्तर थे।

जो गुलाबों की महक देते थे,
उनके सीने में कई नश्तर थे।



उर्म अनपर का काव्य (कविता संग्रह : 195?)
प्रस्थान (कविता संग्रह : 1934)
मं.50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# गज़ल–43

जिक्र ग्राते ही वो गुनाहों का,
नाम रटने लगा गवाहों का।

उसने पांवो में बांध कर घुंघरू,
फ़ासला तय किया ग्रफ़ाग्रों का।

मैकदे से निकल के लोग कई,
पूछते है पता गुफाग्रो का।

उस परिन्दे को खोज कर लाग्रो,
मोड दे जो कि रुख हवाग्रो का।

# ग़ज़ल—44

जो जगह वक़्त से पुरानी थी,
वो मेरे दिल की राजधानी थी।

वक़्त ने क्या से क्या बना डाला,
कितनी मासूम ज़िन्दगानी थी।

उनके ख़्वाबों में खिले गुलमोहर,
जिनपे मौसम की मेहरबानी थी।

जिस गली में लुटे थे हम यारो,
वो गली सबसे खानदानी थी।

बन्द मुठ्ठी में जिनके सत्ता थी,
लाश उनको भी ख़ुद उठानी थी।

जो ग़ज़ल वक़्त ने नहीं गाई,
वो हमें वक़्त को सुनानी थी।



प्रस्थान (कविता संग्रह : 1984)
सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल—45

झोंपड़ी जिनके लिए तुमने बनाई है,
हाथ में उनके फकत दियासलाई है।

जुड़ गया कानून से कितना सगा रिश्ता,
जेबकतरे बाप का बेटा सिपाही है।

अब अंधेरे की सिफारिश कर रहे है वो,
इस शहर की रोशनी जिसने चुराई है।

भीड़ भगदड़ में कुचल कर मर गया है जो,
हाथ मे उस शख्स के मां की दवाई है।

फाड़ कर फेंकी थी इक दिन जो गजल हमने,
वह गजल फिर से किसी ने गुनगुनाई है।

खत लिखा है शहर में दादी को पोते ने,
आजकल वो शहर भर का घर जवाई है।

# ग़ज़ल—46

हम समझे अनुराग, शहर की गलियों में,
मगर छिपे थे नाग, शहर की गलियों में।

बेच दिया सबने, समन्दर के सूरज को,
ढूँढा किए चिराग, शहर की गलियों में।

सदा सुहागिन बन कर नागिन बैठ गई,
लुटते रहे सुहाग, शहर की गलियों में।

गाँव छोड़ने वक्त, जख्म ऐसा पाया,
मिटा न पाए दाग, शहर की गलियों में।

हैलो, टाटा, बॉय-बॉय, सॉरी डीयर,
सिर्फ बचा खटराग, शहर की गलियों में।

धुएँ से पहचान हुई पहले उनकी,
फिर ले आए आग, शहर की गलियों में।

जिस्मों के पेड़ों पर बैठे कठफोड़े,
करते रहे गुराग, शहर की गलियों में।



30, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

# ग़ज़ल—47

लाश जब-जब भी कोई लेकर के आया है,
हमने ही उस लाश को कंधा लगाया है।

जिन्दगी का अर्थ इक हमने भी खोजा है,
जिन्दगी बस मौत का आधा किराया है।

क्या कमायेगा कोई इन्सान दौलत को,
दर्द हमने दोस्तो जितना कमाया है।

भीड़ नाले की बगल में देख वो बोला,
गर्भ लगता है किसी ने फिर गिराया है।

सूर्य को सिफलिस हुई है चांद को टी बी.,
इस शहर को इसलिए तज राम आया है।

# ग़ज़ल—48

मत पूछिए मारे गए लोगों को क्या मिला,
जिनके लिए थे वो मरे उनको ख़ुदा मिला।

हम जिस शहर में देवता को खोजते फिरे,
उस शहर में तो आदमी तक लापता मिला।

जिन मछलियों को कुछ मछेरे मार कर लाए,
उन मछलियों की लाश पर गांधी लिखा मिला।

जो रौशनी को उम्र भर भी खोज ना पाए,
उनकी समाधि पर हमें दीपक जला मिला।

वह ख़त जिसे क़ासिद नहीं यमराज लाया था,
उस ख़त पे हमको दोस्तो! अपना पता मिला।

जो ज़िन्दगी भर बावफ़ा बन साथ में चले,
आख़िर उन्हीं की ओर से हमको दग़ा मिला।

# ग़ज़ल–49

गम की दुनिया के जौहरी है, कितने जाने-माने हम,
उनके भी गम से है वाकिफ जिनसे है बेगाने हम।

जिन आखो से हम पीते थे उन्हे मोतियाबिंद हुआ,
इसीलिए तो बदल रहे है. रोज नये मैखाने हम।

होते और किन्ही हाथो मे टूट गए होते अब तक,
सदियो से प्यासे हैं फिर लिए खडे, पैमाने हम।

मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे और गिरजे नजर नहीं आये,
हर जगह बम ! देख के लौटे है खाली तहखाने हम।

माना रूप नही मार्कापित करता अधी आखो को,
किन्तु कभी भी जजबातो से नही रहे अनजाने हम।

देखा गर उसको होता तो साथ निभाना मुमकिन था,
किन्तु जिसे देखा ना कभी अब उसके है दीवाने हम।

# ग़ज़ल—50

बीच हमारे केवल कुछ सांसों की दूरी है,
मगर नहीं मिल सकते है कैसी मजबूरी है।

ध्यान मगन कब से बैठे हैं हम अपने भीतर,
अब तक लेकिन क्यों अपनी हर साध अधूरी है।

गांव उजाड़े है हमने ही अपने गीतों के,
किन्तु उजड़ना गीत नहीं यह दर्द ज़रूरी है।

याम खजूरों का जंगल है, भटक रहा है मन,
मन हर वृक्षों पर लिखता, मौसम अंगूरी है।

खोज रहा हूँ कब से तुमको मन के मरुथल में,
और कहते हो तुम मृग में उसकी कस्तूरी है।

ढलती हुई शाम ने मेरे जख्मों को चूमा,
फिर सूरज ने कहा कि ये तुमसा सिन्दूरी है।

## ग़ज़ल—51

सूना-सूना कितना हमको आंगन लगता है,
विधवा मां की मांग सरीखा सावन लगता है।

किस चेहरे से खुशियां मांगें, कोई नहीं समझा,
हर चेहरा पीड़ा का यम! विज्ञापन लगता है।

खुद जाकर क़ातिल के घर वो अपने रख आए,
जिनको अपने खूं में भीगा दामन लगता है।

खंडित है वो खुद ही यारो! कौन कहे उनसे,
टूटा-टूटा जिनको हर इक दर्पण लगता है।

मन से है सम्राट मगर वह भीख मांगता है,
कितना धन है पास मगर वह निर्धन लगता है।

मन से मन की दूरी अब तक तय ना कर पाये,
तन से तन तक का जिनको कि बंधन लगता है।

# ग़ज़ल–52

तुम मेरी तक़दीर में चाहो तो ग़म लिख देना,
आंखों में आंसू, पलकों में मातम लिख देना।

हर चेहरे को हमने यूं तो मुस्काने बांटी,
तुम अब चाहो तो पीड़ा की सरगम लिख देना।

हमने हर आंखों के सपनों को बसंत बांटे,
तुम अब चाहो तो पतझड़ का मौसम लिख देना।

माना कि तक़दीर ने हमको, मरुथल ही सौंपे,
पर तुम चाहो तो नदिया का संगम लिख देना।

सिर्फ़ तुम्हारी क़लम लिखेगी क़िस्मत के पन्ने,
अपने हाथों में जो भी चाहो तुम लिख देना।

# ग़ज़ल–53

रात का पहला पहर और मैं,
दर्द का लम्बा सफर और मैं।

ज़िन्दगी भर याद आएँगे,
दोस्त ! तुमको ये शहर और मैं।

कितने गम दिल में छुपाए हैं,
गांव की बूढ़ी नहर और मैं।

आग को बुझने नही देंगे,
घाम का मेरा ये घर और मैं।

प्यार में हाजिर हैं कटने को,
लीजिए, मेरा ये सिर और मैं।

कितनी गज़लों को जन्म देंगे,
आपकी पहली नज़र और मैं।

# गज़ल–54

फूस के कुछ झोपड़ों को जिन्दगी कहते हैं वो,
आग तक को आजकल तो रोशनी कहते हैं वो।

प्यार को जो आत्मा से जोड़ते थे कल तलक,
दिल लगाने को भी अब तो दिल्लगी कहते हैं वो।

साथ में थे कल तलक जो धूप में साया हो ज्यों,
आजकल उन तक को यारो, अजनबी कहते हैं वो।

अपने खातों में लिखी हैं गैर की रुसवाइयां,
क्या लिखा उनके लिए यह क्या कभी कहते हैं वो।

रीढ़ की हड्डी तलक भी रख रहन जो जी रहे,
क्या पता उनको भी क्यों कर आदमी कहते हैं वो।

# ग़ज़ल—55

युद्ध न हम हारे होते गर, मिले न होते यार नए,
हाय अपाहिज हुए तो हमको भेंट मिले हथियार नए।

पांडव वही, वही है कौरव, वही खेल है धोखे का,
किन्तु बचेगी नहीं द्रोपदी, कृष्ण जो है इस बार नए।

सूरज से मुँह फेर दोस्तो, खंडहर बन कर क्या पाया,
चमगादड़ का वंश बढ़ाया गिद्धों के परिवार नए।

खेल कूद कर बड़ी हुई जो धूप तुम्हारे आंगन में,
बेच उसे मंदिर-मस्जिद में, लाए तुम अंधियार नए।

चीख-पुकार, लूट और हत्या, दंगों में पैदा होकर,
जाने कैसे रह जाते है, जिन्दा ये त्यौहार नए।

जिस्म परोसा है पत्तल में, नंगा कर आजादी ने,
चूमो-चाटो, नोचो इसको, ढूंढो फिर अधिकार नए।

# ग़ज़ल–56

देखेगा क्या राही और ?
कितनी बार तबाही और ?

या तो आँखें खुली न रख,
या दे नई गवाही और ।

चौराहे पर चोर मिला,
होगा वही सिपाही और ।

देख हथेली का अंतर,
दाईं ओर तो बाईं ओर ।

कहाँ मिलेगी भला बता,
ख़ून से सस्ती स्याही और ।

भूखा है तो रोटी छीन,
इसकी नहीं दवाई और ।

## ग़ज़ल–57

कैसे देते वे भला अपनी बलि,
जिनको देनी थी सिर्फ श्रद्धांजलि।

रीढ़ की हड्डी गई जब टूट तो,
पहन आए आप की वे केंचुली।

खून में मोजे हैं उनके सुर्खतर,
जो कि पहने जूतियां हैं मखमली।

एक औरत ने जना है भेड़िया,
इस खबर से शहर में है खलबली।

तार पर लटकी हुई चमगादड़ें,
उल्लुओं में भी अधिक है दोगली।

सर सलामत देख कर सबने कहा,
मूसली हारी या टूटी ओखली।

बिस्तरों पर रात जो नोची गई,
थी किसी मजदूर औरत की कली।

# ग़ज़ल–58

इस शहर में शख़्स निरापद न खोजो,
यातना की दोस्तो, सरहद न खोजो।

ओहदे ऊँचे बहुत उनके कभी थे,
किन्तु अब हैं लाश उनका पद न खोजो।

तुम पहाड़ों की बगल में चल रहे हो,
भूल कर भी इस समय तुम क़द न खोजो।

कोई भी क़ायम नहीं अपनी जगह पर,
दोस्तो! इस शहर में अंगद न खोजो।

सिर्फ़ आँधी की जुटाओ तुम व्यवस्था,
अब ढहाने को कोई बरगद न खोजो।

ख़ुदकशी क़ानून भी कर ही चुका है,
लाद कर तुम लाश अब संसद न खोजो।

# ग़ज़ल–59

देह दीवारों में चिनवाते चलो,
लाश कम्प्यूटर से गिनवाते चलो।

आयेगी इक्कीसवीं इक दिन सदी,
हड्डियां भूखों की बिनवाते चलो।

बिलबिलाते पेट में बारूद भर,
सीरियल टी. वी. के दिखलाते चलो।

गन्दगी में ही कमल खिलते सदा,
गंदी बस्ती में ये दोहराते चलो।

टैक्स रुई सा लगा कर पीठ पर,
चाबुकों से उनको धुनवाते चलो।

गांव पर दो शहर की चरबी चढ़ा,
जंगलों का गोश्त कटवाते चलो।

आग चूल्हे को मिले ना लाश को,
गोलियों से जिस्म भुनवाते चलो।

# ग़ज़ल—60

छाव-गाव की नही यहा पर, तेज दुपहरी है,
रिश्तो का तो नाम यहा पर मरी गिलहरी है।

चिमनी के धुएँ से ज्यादा घुआँ है मन में,
कोलाहल बाहर है भीतर चुप्पी गहरी है।

देहाती हो इसीलिए तो दूध पिलाते हो,
अजगर से ज्यादा शहरी का बच्चा जहरी है।

मच्छर जिनको समझ रहे हो वो मछुआरे है,
मगरमच्छ के जाल सरीखी बनी ममहरी है।

गेतो और खलिहानो में जो रिश्ते उगते है,
उन रिश्तो के भाव-मोल के लिए कचहरी है।

चिकने-चुपडे संबोधन और शहद मिली वाणी,
अब तो समझ गए होगे यह भाषा शहरी है।

# ग़ज़ल–61

आती है उनको हमपे बड़ी खीझ आजकल,
हम कल तलक नाचीज थे, हैं चीज आजकल।

बंजर हुई ज़मीन है या ऋतु है बेईमान,
उगते नहीं हैं रोशनी के बीज आजकल।

सावन भी है, झूले भी हैं, मौजूद सुहागिन,
फिर किसलिए मनती नहीं है तीज आजकल।

मैं बुत मगर हूं दोस्तो, मुझको जवाब दो,
जाता है मेरा दिल भी क्यों पसीज आजकल।

वे मर्द हैं तो बाझ उनको सिद्ध भी करें,
क्यों खोजते हैं नित नई तजवीज आजकल।

काटो न सेवने को, सिर्फ़ खून देख कर,
है सांप के खूं से रंगी दहलीज आजकल।

# ग़ज़ल–62

काच के हम सवालात हैं,
पारदर्शी ख़यालात हैं।

वे थे भूखे मरे इसलिए,
हम ये समझे कि सुकरात हैं।

जाना नीड़ों में रहकर के ये,
पक्षियों के भी दिन-रात हैं।

दिल से अहसास जो कर सको,
जंगलों के भी जज़बात हैं।

कैद पग-पग पे है जिन्दगी,
रूह की हम हवालात हैं।

गर्दिशों से है जो लड़ रहे,
वक्त की वे करामात हैं।

# ग़ज़ल—63

अपनी आदत सुधार कर देखो,
ख़ुद के हाथों ही हार कर देखो।

सबके चेहरे उतारने वालो,
अपना चेहरा उतार कर देखो।

वह जिसे खोजते हो मन्दिर में,
उसको भीतर पुकार कर देखो।

बिरवे खिलने से पहले तुलसी के,
अपना आंगन बुहार कर देखो।

ये जहां तुमको मान्यता देगा,
ख़ुद को इक पल नकार कर देखो।

जानना चाहते हो पाप है क्या,
भूख का पल गुजार कर देखो।

# गज़ल–64

देख नाख़ून डर गई मुनिया,
डूब पानी में मर गई मुनिया।

बूढ़ा बापू था पेड़ पीपल का,
जिसकी शाखों से झर गई मुनिया।

साँझ लेकर के आई गो-धूलि,
जिसमें मिलकर बिखर गई मुनिया।

है किनारों को खोज अब तक भी,
कितनी गहरी उतर गई मुनिया।

जब हवा पूछती है उसका पता,
पेड़ कहते हैं घर गई मुनिया।

मरना घुटने से कहीं बेहतर है,
मर के कितना निखर गई मुनिया।



- 16 मई 1955 को जन्म लेने के अतिरिक्त मेरे पास कोई चारा नही था.
- शिक्षा का बोझ ढो नही पाया और आधी अधूरी शिक्षा लेकर सरकार के हाथों मासिक किश्तो में घटी दरों पर बिक गया.
- संप्रति शिक्षा विभाग मे पुस्तकालयाध्यक्ष हूँ.
- "कवितायें लिखना बुरे दिनों का ऐश है" यह मान कर बचपन से ही कवितायें लिख रहा हूँ.
- 'दर्द-ये-अंदाज' के अतिरिक्त 'शवयात्रा स्वीकृतियो की', 'कैक्टस के फूल', 'सलीब पर टगा सूरज' और 'मैं से तुम तक' काव्य सग्रह लिखे.
- उपन्यास 'कफ़न की नीलामी', कहानी संग्रह 'अपना-अपना अहसास' और 'अंधा अभिमन्यु' अभी तक प्रकाशको की खोज में.
- पता—सुरेन्द्र चतुर्वेदी
  कुंदन नगर, अजमेर (राजस्थान)